CATURVEDI, SRINARAYAN, 1895-

CARAN

ALLAHABAD, 1914

Bibliographic Record Target

Caturved¯i, ´Sr¯in¯ar¯aya.n, 1895-
C¯ara.n. Allahabad : Indian Press, 1914.
iv, 39 p. ; 19 cm.

NBIL record number 17436
Hindi -- Literature - Poetry.

चारण

(एक कल्पित पद्यात्मक कथा)

The poet's eye, in a fine frenzy rolling,
Doth glance from heaven to earth, from earth to heaven;
And, as imagination bodies forth
The forms of things unknown, the poet's pen
Turns them to shapes, and gives to airy nothing
A local habitation and a name.

--Shakspeare.

लेखक

श्रीधर

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

प्रथम संस्करण] १९७१ वि० [मूल्य प्रति पुस्तक ≡)

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at the Indian Press, Allahabad

वक्तव्य ।

मैं बड़ी प्रसन्नता के साथ, आज अपना यह प्रथम प्रयास हिन्दी-पाठकों की सेवा में सादर समर्पित करता हूँ। यह पुस्तक उस समय लिखी गई थी जिस समय मैं प्रयाग के गवर्नमेन्ट स्कूल का विद्यार्थी था। यह पुस्तक प्रायः अपनी मूल अवस्था में उपस्थित की गई है। केवल कुछ शब्द-सम्बन्धी परिवर्तन छोड़ कर, केवल एक ही विशेष परिवर्तन किया गया है। वह परिवर्तन दसवें परिच्छेद में है। पहले यह अध्याय इस वर्तमान अवस्था से कुछ मिलते जुलते स्वरूप में था। किन्तु प्रसिद्ध कवि सर वाल्टर स्काट के 'ले आव् दी लास्ट मिन्स्ट्रेल' को पढ़कर यह असम्भव था कि मैं यह, तथा और कुछ सूक्ष्म परिवर्तन न करता।

जो हो, यह जानते हुए भी कि इसमें असंख्य त्रुटियाँ हैं, मैं अपना यह प्रथम प्रयास पाठकों की सेवा में समर्पित करता हूँ। यदि आप लोगों की सम्मति से मैं ऐसी पंक्तियों के लिखने के बिल्कुल ही अयोग्य न ठहरा, तो भविष्य में आपकी यथा-शक्य सेवा करने का उद्योग करूँगा।

मैं स्वयं दिखाऊ धन्यवाद देने के विरुद्ध हूँ। किन्तु मैं निम्नलिखित मित्रों की कृतज्ञता स्वीकार करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। श्रीयुत चन्द्रलाल जी बी० ए०, एल० बी०,

श्रीयुत नन्दलाल साह, श्रीयुत रामकृष्ण शर्म्मा, श्रीयुत गोर्ती-बेङ्कट रमैया, पं० सिद्धिनाथ दीक्षित, श्रीयुत रजनीकान्त तथा श्रीयुत बालकृष्ण को मैं उनके उत्साहवर्द्धन के लिए धन्यवाद देता हूँ। सम्भव था कि इन महाशयों की उत्तेजना के बिना यह तथा अन्य पद्य पूरे ही न होते।

श्रीयुत पण्डित अमरनाथ शर्मा ने इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़कर, तथा कई एक बहुमूल्य सम्मतियाँ देकर, इस पुस्तक में कई महत्त्वपूर्ण फेर फार कराये हैं। इसलिए मैं उनका अनुग्रह सहर्ष स्वीकार करता हूँ।

अपने से बड़ों को धन्यवाद देना मैं बिल्कुल ही अनावश्यक समझता हूँ, क्योंकि उनसे सहायता पाना, तथा उसका उपयोग करना मैं अपना अधिकार समझता हूँ।

श्रीवर

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, }
१९७१ }

श्रीहरिः।

चारण।

प्रथम परिच्छेद।

राजपूत वर एक, एक दिन भूल गया जंगल में राह
था अहेर को गया, किन्तु जा पड़ा बीच बन अगम अथाह।
उसके मुख से वीरोचित प्रतिभा की झलक निकलती थी
कायरता की दाल न उसके सन्मुख कुछ भी गलती थी।
वही सिरोही भारत भर में जिसने नाम कमाया था
उसके कमरबन्द में उसने अतिशय आदर पाया था।
एक हाथ से भाला सुन्दर चम चम चम चमकाता था
जिसको देख नीच कायर का हृदय कांप तक जाता था।
साफ़ा सुन्दर सिर पर उसके ऐसी छबि दिखलाता था
जिसमें दर्शक बहादुरी का दर्शन करने पाता था।
काली मूँछें उमठी उसकी आयु शीघ्र बतलाती थीं
भौंहें तनी स्वभाव वीर का इकटक में दिखलाती थीं।

हुई घूमते उसको सन्ध्या एक तलैटी दिखलायी
सुन्दरता निज जहाँ प्रकृति ने भली भांति थी दरसायी।
तीन ओर थे दुर्गम पर्वत, हरियाली जिनपर छायी
जिनके शिखरों पर किरीटिसी छबि पेड़ों ने थी पायी।

भाँति भाँति के रंग बिरंगे खिले फूल छवि पाते थे
लाखों पारिजात भी जिनके सन्मुख शीश झुकाते थे ।
वहाँ बीच में वक्र चाल का झरना झर झर झरता था
धीमा किन्तु, मधुर सुन्दर स्वर, प्यारा प्यारा करता था ।
उसका निर्मल नीर स्फटिक मणि की सी उपमा रखता था
थके बटोही के उर को जो अतिशय हर्षित करता था ।
आस पास फल लदे वृक्ष को देख भूँख लग आती थी
ईश्वर की अपार महिमा की याद हृदय को आती थी ।
पिक, मयूर, सारस, शुक आदिक मिलकर कलरव करते थे
मानों अपने अनुपम सुख की बड़ी बड़ाई करते थे ।
तिस पर ऊपर सोने से बादल क्या छटा दिखाते थे ?
कभी इधर से, कभी उधर से, आ आकर मँड़राते थे ।
एक ओर अस्ताचलगामी अस्त सूर्य जी होते थे
और दूसरी उदय दिशा से उदय चन्द्रमा होते थे ।
यही जगत का चक्कर है, गिरता कोइ कोई चढ़ता है
जब कोई मिट्टी मिलता है, तब अकाश कोई बढ़ता है ।

थके वीर क्षत्री की आँखें एक कुटी से टकराईं
निर्जन बन में नर को पाकर बहुत बहुत वे हर्षाईं ।
धीरे धीरे वीरश्रेष्ठ वह कुटी द्वार सन्मुख आया
तेज पुंज इक वृद्ध पुरुष को जहँ उसने बैठा पाया ।
कान्तिमान गम्भीर, वीर, मुखवर की छटा निराली थी
दाढ़ी स्वेत हृदय में आदर को उपजाने वाली थी ।

देख अतिथि को, वृद्ध पुरुष उसको आगे लेने आया
देख अतिथि को अपने घर पर, मनही मन वह हर्षाया ।
'हे वर युवक ! धन्य मेरे हैं भाग्य आज तुम आये हो
अपने चरण आज तुम मेरी दीन कुटी में लाये हो ।
जो कुछ फल, दल, कन्द, मूल इस दीन कुटी में प्रस्तुत हैं
सो सब, युवक ! हृदय से तुमको आदर सहित समर्पित हैं ।
बैठो हो निःशंक, हृदय में इसको समझो अपना घर' ॥
कर प्रणाम, बोला वह क्षत्री सविनय जोड़े दोनों कर—
'पूजनीय ! हे वृद्ध पुरुष ! हम थके बटोही माँदे हैं
नाम हमारा विजयसिंह है, राजपूत कुल वाले हैं ।
आज सबेरे इस जंगल में था, शिकार हित किया प्रवेश
चलते चलते गया हार पर नहीं मिला जंगल का शेष ।
'बैठो' 'बैठो' उठा बोल वह वृद्ध और आसन लाया
उस पर विजयसिंह को उसने देकर आदर बैठाया ।
शुभ्रस्रोत का निर्मल जल ला उसको शीतल करवाया
फिर इक भली चटाई लाकर, उस पर उसको लेटाया ।
तूँबी में धारोष्ण दूध औ कन्द, मूल, फल पत्ते पर
जो कुछ बना अतिथि के सन्मुख, रखा वृद्ध ने सब लाकर ।
कर विश्राम, युवक ने आकर वृद्ध संग भोजन पाया
सात्विक भोजन को पाकर के युवक बहुत ही हर्षाया ।

द्वितीय परिच्छेद।

भोजन कर दोनों नर नायक कुटी द्वार सन्मुख आये
जहाँ प्रकृति ने दोनों के हित थे चबूतरे बनवाये।
दोनों व्याघ्र चर्म पर बैठे, लगे बात करने वे यों
कोई ऋषि औ शिष्य परस्पर बात चीत करते हों ज्यों।
बोला युवक—'वृद्धवर! अपना परिचय मैं क्या बतलाऊँ
राजपूत हूँ और जगत में विजयसिंह हूँ कहलाऊँ।
हूँ शिकार का मैं प्रेमी, है यही ईश ने सिखलाया
जिसके कारण आज भाग्यवश दर्श आप का है पाया।
यद्यपि कृतज्ञता जतलाना, साधु न ठीक समझते हैं
तो भी जो नर नहीं जताते धर्मोल्लङ्घन करते हैं।
यहाँ आपसे वृद्ध पुरुष को निर्जन वन में है पाया
इसने मेरे मन में, सचमुच बड़ा अचम्भा उपजाया।
इससे कृपया आप सदाशय! परिचय अपना बतलावें
अपनी कथा पियूषमयी से प्यास हमारा बुझावें'।
बोला वृद्ध–'भला मैं तुमको परिचय क्या निज बतलाऊँ
अपने जीवन के नाटक के दृश्य कहाँ तक दिखलाऊँ।
हूँ चारण मैं रजपूतों का, वीर काव्य गाने वाला
सत्य, धर्म औ रजपूतों की कीरति बतलाने वाला।
पिता हमारे रजपूतों की राजसभा में थे विख्यात
उनके गान मनोहारी की फैली थी सब जग में बात।

"वीरवरों के कीर्ति गान में अपना समय बिताऊँगा"
मैंने यह प्रण किया "न बनकर दास सभा में जाऊँगा"।
रजपूतों की राजसभा में बिना रोक मैं जाता था
क्षत्री वीरों की गुण गरिमा सबको वहाँ सुनाता था।
जब मैं किसी वीर का वर्णन करते युद्ध सुनाता था
तब सब क्षत्री वीरों का मुख भर उमंग से जाता था।
जब मैं किसी वीर का प्रण, सन्मुख सुवीर दुहराता था
तब उससे वह प्रण दुहराये बिना रहा नहिं जाता था।
सब क्षत्री गण जहाँ देखते मेरा आदर करते थे
बड़े ध्यान से, बड़े चाव से, वीर गान वे सुनते थे।
हिन्दूपति की राजसभा में मैंने आदर पाया था
उनको बहुत बार मैंने ही वर्णन वीर सुनाया था।
बूँदी की जब राजसभा में अपना गान सुनाता था
तब सन्नाटा सभा-भवन में एक साथ छा जाता था।
कोटा के महराव राव को जब जब गान सुनाता था
तब तब तितनाही अधिकाधिक आदर उनसे पाता था।
जयपुर की भी राजसभा में मैंने गान सुनाये हैं
बहुत बार उसके पत्थर में जो जाकर टकराये हैं।
जोधपूर की सभामण्डली ने सुनकर के मेरे गान
बहुत बार मुझको कीन्हे हैं, उत्तेजना के शब्द प्रदान।
महराना महराव आदि सब मेरे उत्सुक श्रोता थे
जिनने हो प्रसन्न रागों से निजकर मुझ पर फेरे थे।

धन की मुझको चाह नहीं थी, नहीं मान की थी पर्वाह
केवल सहृदय श्रोता ही की मेरे मन में रहती चाह।

कवि को श्रोता की प्रसन्नता से प्रसन्नता होती है
श्रोता की सुप्रशंसा उसके सुख का कारण होती है।
कवि कविता कर मर जाता है, इसी आस पर हो निर्भर
हर्षित होगा सहृदय पाठक भली भाँति उसको पढ़कर।
श्रोता द्वारा 'वाह' 'खूब' सुन ठग जाता कवि बेचारा
इन्हीं शब्द के सुनने को वह फिरता है मारा मारा।
कवि जीता है जग में केवल यही सोचकर कहीं कभी
सच्चा गुणग्राहक पाऊँगा बदला देगा जोकि सभी।
कवि का जीवन आशा पर है, कवि प्रसन्नता पाता है
जब सहृदय श्रोता उसकी कविता के गुण बतलाता है।
यही सत्य कवि के लक्षण हैं-वे कवि होते कभी नहीं
सरस्वती को लक्ष्मी जी की चेरी करते जोकि कहीं॥

किन्तु समय का फेर हुआ वरवीर शान्तिपुर में पैठे
अनुभवहीन युवक आ आकर पावन गद्दी पर बैठे।
नृप होते ही सुख विलास के दल दल में वे जाते डूब
सरस्वती औ वीर जनों को लगती शीघ्र वहाँ से ऊब।
सच्चा चारण नहिं ऐसों की कीर्ति भूलकर गावेगा
ऐसे नर के पुरस्कार को ठोकर चार जमावेगा।
पुत्र चहैं वे लक्ष्मी के हों उनसे काव्य द्रोहियों का—
चारण कभी भूल कर भी तो कीर्ति गान नहिँ गावेगा।

सच्चा चारण धन की तो पर्वाह न भूले करता है
नहिँ धन से अन्धा होता है-सत्यादर वह करता है।
भूल गया जग मुझको, मेरा राग जगत जब भूल गया
मैंने भी तब सकल जगत को इक छन में बिसराय दिया।
जो नर नीच वीर काव्यों का भूल निरादर करता है
उसका मुँह देखे भी हमको पाप बहुतही लगता है।
जब जग ने कर दिया निरादर, यहाँ चला मैं आया हूँ
प्रकृति देवि औ पशु पक्षी को यहाँ बहुत मैं भाया हूँ
जब मैं अपना बीन उठाकर काव्य मधुरस्वर गाता हूँ
श्रोतागण से घिरा हुआ तब मैं अपने को पाता हूँ।
मृगगण आ तब दूर दूर से मुझे घेर सा लेते हैं
बिना पलकमारे इक टक, दे ध्यान, गान वे सुनते हैं।
तारों पर जब वीन के, मेरी चंचल उँगली पड़ती हैं
आस पास की कली अधखिलीं चट से तब खिल उठती हैं।
हो प्रसन्न मेरे रागों में सरिता राग मिलाती है
मधुर समीर पत्तियां होकर अपनी ताल सुनाती है।
गऊ छोड़कर पागुर करना, सुनती ही रह जाती है
वह छवि, अनुपम छटा कहो तो किस उर को नहिं भाती है?
यदि हे युवक उमंगी तुम जो नहिँ विलास में डूबे हो
अथवा सुनकर इतरजनों के गान बहुत ही ऊबे हो।
जो तुम मन से पुरुषार्थों का चहते सुनना कीर्ति-कलाप
हो तुमको विश्वास कि उससे कटता पूर्व जन्म का पाप।

जो मन में हो कुछ भी इच्छा तो मैं तुम्हें सुनाऊँगा,
रजपूतों का वीर दृश्य मैं तुमको अभी दिखाऊँगा ।
सुनकर चारण का भाषण, वह जोड़ युवक अपने दोउ कर
बोला—'किसे न होगी इच्छा सुनने की हे चारण वर !
जो अपने वर पुरुषाओं का कीर्त्ति-गान नहिं सुनते हैं
निस्संशय वे लाख वर्ष तक नरक-अग्नि में जलते हैं ।
सरस सुखद तब वीर काव्य को देकर ध्यान सुनूँगा मैं
भला कहो क्योंकर अवसर को जानबूझ छोड़ूँगा मैं' ?

यह सुनकर वह वृद्ध कुटी से बाहर लाया अपनी बीन
जगत, प्रकृति की सुन्दरता थी श्वेत चांदनी के आधीन ।
श्वेत शिला के एक खण्ड पर बैठा शुभ्रकेश चारण
श्वेत दन्त में, श्वेत प्रभा का, जड़ा हुआ हो जैसे मणि ।
चारों ओर सफ़ेदी जग पर थी विचित्रता की छायी
पूर्ण चन्द्र की ज्योति विमल से रात्रि भली थी दिखलायी ।
अथवा उसको आज दूध से प्रभुवर ने नहलाया है
अथवा होकर प्रभाहीन दिन हमको यों दिखलाया है ।
चमकीले जल पर मयङ्क की छटा हृदय को है भायी
अथवा सोने के तारों से चद्दर सित यह बिनवायी ।
पल्लव, पेड़, पहाड़, पत्ति, पशु साफ़ सभी दिखलाते हैं
नीरव रजनी की छवि लख कर हर्ष सभी-नर पाते हैं ।
ऐसे समय बीन मीठे से शब्द मनोहर यह आया
और वृद्ध चारण ने अपना वीर काव्य वर यह गाया :—

तृतीय परिच्छेद

मंगलाचरण ।

"जय जिनने है किया विभूषित वीरों से इस पृथ्वी को
जय दे कर संगीत जिन्होंने किया देवता है नर को ।
जय वाणी जो वीर वरों के कीर्त्ति गान को गाती है
जय वीणा जो निज शब्दों से उसमें राग मिलाती है ।
जय श्रोता जो ध्यान-मग्न हो वीर काव्य को सुनता है
जय कवि जो सच्चे वीरों पर सरस काव्य को रचता है ।
जय उनकी भी जो वीरों की कीर्त्ति हृदय से गाते हैं
जय उन सब की जिनकी गाथा हम अब तुम्हें सुनाते हैं ।

जय जय भारतवर्ष देश क्षत्री की पावन जन्म-थली
जो जग की तो बात कौन ? है स्वयं स्वर्ग से बहुत भली ।
जहाँ स्वभक्तों की रक्षा को प्रभुवर ने अवतार लिया
जहाँ वेद ने प्रकटित होकर जगत तिमिर का नाश किया ।
समदर्शी ऋषि मुनियों को भी भूमि बहुत जो प्यारी थी
कला-कुशलता विद्यादिक में जो सब जग से न्यारी थी ।
कर्मनिष्ठ द्विज के सुकण्ठ से जहाँ वेद का गान हुआ
उनके यज्ञधूम पावन से सुरभित जो स्थान हुआ ।
जहाँ वैश्यगण के कौशल से रहती लक्ष्मी बँधी पड़ी
महलों की तो बात कहूँ क्या ?—तुच्छ कुटी थी रत्नजड़ी ।

जहाँ शूद्रगण भाँति भाँति की अनुपम वस्तु बनाते थे
देख देख परदेशी जिनको अँगुली दांत दबाते थे।
जो थी भूमि केन्द्र वाणिज की और सभ्यता की आधार
जिसके दल बल साहस का था नहीं किसी ने पाया पार।

जय जय राजस्थान भूमि, जय वीर-प्रसविनी अनुपम भूमि
जिसने वीर श्रेष्ठ हैं पाले मातृस्नेह से उनको चूम।

जय जय जय चित्तौर दुर्ग, जय गढ़ सिर रत्न जगत विख्यात
जिसने धर्म-प्रेम के कारण सहे शत्रुओं के आघात।
जिसके पत्थर कंकड़ तक पर लिखा हिन्दुओं का इतिहास
जिसको देख हमें हो सकता अपनी दृढ़ता का आभास।
हिन्दूगण की दृढ़ता का जीवित यह है प्यारा स्मृति-खम्भ
जिसको देख पुरानी बातें आती याद एक ही संग।
जिसके कोट महल जिसके का है हिन्दूगण को अभिमान
जिसके फाटक पर वीरों ने दिये धर्म रक्षण को प्रान।

जय शिशोदिया वंश, राम के वीर वंशजों का कुल ख्यात
जिसके वीर सुपुत्रों की है फैली सारे जग में बात।
जिसको हिन्दू लोगों ने दी 'हिन्दूपति' सी बड़ी उपाधि
जिसने सदा मिटायी अब तक आर्य धर्म की सारी व्याधि।
जिसका आदर धर्मदृष्टि से हर हिन्दू के मन में है
जो उसके सन्मान और आदर की सब सामग्री है।
जिसके पुरुषाओं के यश से सुरभित सारा महिमण्डल
जिस ऐसा विख्यात न कोई महि मण्डल पर दूजा कुल।

पुरुषों की तो बात कौन ? जिसमें रमणी तक वीर हुईं
लड़ीं शत्रु से युद्ध-भूमि में लड़ते लड़ते स्वर्ग गईं।
अथवा अपना कुसुम बदन है ज्वलित अग्नि को सौंप दिया
किन्तु स्वप्न में नहिं यवनों की शरण-गमन का ध्यान किया।
धर्म-हेतु धन, जन, तन, मन तक देने में न विचार किया
पीछे चाहे स्वर्गपुरी को दे स्मशान का रूप दिया।
जग में जो पातिव्रत का सबसे बढ़कर आदर्श हुआ
जिसके वीर कार्य का वर्णन सारे जग में सदा हुआ।
उस सुदेश, दृढ़ दुर्ग, सुकुल का वीर चरित्र सुनाता हूँ
सुनो कान दे, खूब ध्यान दे, वीर गान जो गाता हूँ।

चतुर्थ परिच्छेद।

"पहिनो केसरिया बाना—हे पुत्र ! खड्ग कर में लेओ
मुग़ल युद्ध का दान माँगते सादर वह उनको देओ।
जाकर जग को दिखलाओ—जगवत कुल का षोडश बालक—
भी होता है सिंह हृदय का—अरि गज मद मर्दक, घालक।
दिखलाओ—हे वीर पुत्र ! है नहीं सहज लेना चित्तौर
जाकर पुत्र ! बचाओ अपने पुरुषाओं की प्यारी पौर।"
यह कह कर जननी ने सुत को पीला बाना पहनाया
उसे दिया आशीस और गढ़ की रक्षा को भिजवाया।

कन्या पुत्रबधू प्यारी को कवच लोह का पहनाया
तीर धनुष उनको सम्हलाया खड्ग हाथ में पकड़ाया।
स्वयं आप भी ले अस्त्रों को बनी चण्डिका रण काली
अथवा क्रोधित सिंहिनि ही सी हुई क्रोध से मतवाली।
चढ़ घोड़ों पर, त्याग जगत घर, युद्धभूमि की ओर चलीं
रस्ते में कुछ और दूसरी क्रोधित चण्डी उन्हें मिलीं।
मधुर किन्तु ओजस्वी स्वर से युद्ध गीत वे गाती थीं
अपने रण निनाद से मानो सारी भूमि कँपाती थीं।

मुग़ल-सेन जलनिधि तरङ्ग सी गढ़ की ओर बढ़ी आती
बहुसंख्यक होने के कारण भय न जरा मन में लाती।
बिना रोक उमड़ी आती थी, इतने ही में विषमय तीर
आकर लगे छेदने तड़ पड़, तड़ पड़ मुग़ल-सेन के वीर।
हो आश्चर्यचकित तब सबने शत्रु मित्र ने यों देखा
थोड़ी वीर नारियों को सो तीर फेंकते यों लेखा।
मानो रणचण्डी चितौर की रक्षा को महि पर आईं
वा सोते से जग जाने पर क्रोधित सिंहिनि सी धाईं।
निर्निमेष आँखों से सब बस उन्हें देखते खड़े रहे
मन्त्र बँधे जैसे के तैसे खड़े रहे औ पड़े रहे।
किन्तु शरों की वर्षा भूले क्षण भी एक न रुकती थी
मुग़ल-वाहिनी उनके मारे आगे बढ़ नहिं सकती थी।
उनके तीरों से मुग़लों के वीर सिपाही मरते थे
और ज़रा आगे बढ़ने का भूल न साहस करते थे।

किन्तु मुग़ल-सेनापति ने जब आगे बढ़ कर यह जाना
इन्हीं वीर वनिता के कारण रुका हुआ है बढ़ जाना।
उन पर ही धावा करने का सब सेना को हुक्म दिया
स्वयं आप भी ललनागण से लड़ने को वह उधर गया।
जब तक पास न आई सेना तब तक तीर चलाती थीं
उनसे मुग़ल-सेन के आगे बढ़ते वीर गिराती थीं।
किन्तु सेन जब पास आगई छोड़ धनुष को खड्ग गहा
किसी किसी ने कोमल कर में बर्छी भाला आदि गहा।
उनके रण बाँके खड्गों ने कितनों के सिर अलग किये
कितनों ने बर्छी के कारण रण में अपने प्राण दिये।
अन्त, मारकर, शत्रु सेन को रमणी-रण दिखलाय दिया
और युद्ध में छोड़ प्राण को स्वर्ग लोक का मार्ग लिया।

इधर पुत्र पत्ते फाटक पर ऐसा करने युद्ध लगा
जिसको देख स्वयं अकबर को बहुत बहुत आश्चर्य लगा।
वह अपनी माता भगिनी औ पत्नी का था देख चुका—
युद्ध, वीरता, रण-कौशल औ अतुल हृदय साहस उनका।
होकर क्षुधित केशरी ज्यों भूखा शिकार पर पड़ता है
वैसे ही हे वीरो! देखो वीर पुत्त यह लड़ता है।
उसका खड्ग रक्त पी पीकर हुआ आज है मतवाला
मुग़लों के ही उष्णरक्त को उसने माना था हाला।
कभी किसी का सिर था काटा, कभी किये धड़ के दो टूक
कभी किसी को सिर से चीरा, तब भी मिटी न उसकी भूख।

जो कोइ मुग़ल वीर साहस कर उसके सन्मुख जाता था
वह फिर कभी न उससे बचकर निज सेना में आता था ।
अपने राजपूत वीरों को वह उत्साह दिलाता था
उनके मन में नई स्फूर्ति औ नव उत्साह जगाता था ।
अन्तर्वीर वह छोड़ जगत को—जगवत कुल का अन्तिम वीर
वीर लोक को गया छोड़ कर महि पर अपना नश्य शरीर ।

जयमल पत्ते ही के गिरते सारे क्षत्री हुए निरास
पहिन पहिन केसरिया बाना आये लेने अन्तिम साँस ।
सारी रमणी कर जौहर व्रत, अग्नि देव की शरण गईं
कर चित्तौर मसान सरिस वे सब रमणीं स्वर्लोक गईं ।
उस दिन, उस दुर्दिन चितौर के, सारे क्षत्री आँखें मूँद
किया किसी ने आत्मसमर्पण नहीं जाति का आदरखूंद ।
नहीं किसी ने केसरिया बाने को जरा कलङ्क दिया
नहीं किसी ने रजपूतों के गुरु गौरव का त्याग किया ।
किसी वीरमाता के सुत ने पीछे को नहिँ पैर रखा
हुआ अन्त में वही कि जो था गढ़ चितौर के भाल लिखा ।
उस हिन्दू से पावन गढ़ का, अमर पुरी से गढ़ चित्तौर—
का, हा ! सारा नाश हुआ औ बना मसान स्वर्ग की ठौर ।

वहाँ आज भी साँझ समय रमणीगण गाया करती हैं
जयमल औ पत्ते का रण, औ अमित वीरता कहती हैं ।
सब चारण वहाँ आज तक उनके गुणगण गाते हैं
जहाँ गिरे थे वीर वहाँ की रज निज भाल चढ़ाते हैं ।

पञ्चम परिच्छेद ।

"जब तक नहिँ चितौर के ऊपर, रवि-कुल ध्वजा उड़ाऊँगा
जब तक नहिँ मेवार भूमि को फिर से स्वर्ग बनाऊँगा ।
जब तक नहिँ मुग़लों के कर से यह सुप्रदेश छुड़ाऊँगा
जब तक नहिँ मैं मुग़लों का मद-गर्व खर्व कर डालूँगा ।
तब तक कुल-गुरु सूर्य साक्षी तन का सुख नहिँ पाऊँगा
तब तक यहां न महल दुमहले घर मैं कभी बनाऊँगा ।
तब तक अपने नीचे कोमल शय्या नहीं बिछाऊँगा
तब तक निर्मित-धातु-पात्र में भोजन नहिँ मैं पाऊँगा ।
जब तक धड़ पर सीस, न तब तक अपना सीस झुकाऊँगा
जब तक तन में प्राण, न तब तक निज को दास बनाऊँगा" ।
उठा बाहु बलशाली अपना यों प्रण मेवारेश किया
और प्रजा अपनी प्यारी को उठकर यह आदेश दिया ।
"नगर गाँव सब छोड़ छाड़ कर जा पहाड़ में बस जाओ
अब खेतों को मत जोतो, फल मूल कन्द बन के खाओ ।
करदो इस स्वर्गीय भूमि को खँडहर पा मेरा आदेश
इससे ही कल्याण तुम्हारा बचसकता बस ऐसे देश' ।
पाकर महराना की गद्दी मान बहुत ही पाया है
भारत-भर के हिन्दूगण के पूज्य धाम को पाया है ।
रानाओं का सिंहासन औ क्रीट मुकुट वह पाया है
जिसने कभी न यवनों को निज गर्वित सीस झुकाया है ।

हैं महराना निस्संशय पर भूमि ज़रा भी पास नहीं
महाराना जी कहलाते हैं, धन थोड़ा भी किन्तु नहीं ।
रजपूतों सी वीर जाति के महाराना कहलाते हैं
पर न पास उनके हम सैनिक अधिक ज़रा भी पाते हैं ।
राजमहल भी कहीं नहीं है, रजधानी का नाम नहीं
आज यहां है, काल वहां है, परसों हैं वे और कहीं ।
किन्तु गर्व अपने पद का औ अपने कुल का सब अभिमान
और वीरता ने छोड़ा था नहिँ राना का हृदय महान ।
जंगल जंगल घूमेंगे पर सीस न ज़रा झुकावेंगे
बिना अन्न मर जावेंगे, पर 'शरण' न मुँह पर लावेंगे ।
कड़ुए और कसैले फल जो जंगल में मिल जाते थे
महरानी महराना उनको खाकर समय बिताते थे ।
पैरों में लोहू बहता है, काँटे लग लग जाते हैं
काँटेदार वृत्त आ आ कर रस्ते में अड़जाते हैं ।
घास फूस महराना जी का सुन्दर सुखद बिछौना है
ऊपर तना प्राकृतिक तम्बू उनका सुखद उढ़ौना है ।
बन बन, पर्वत-शिखर, शिखर राना का पीछा करते हैं—
मुग़ल; किन्तु, वे उन्हें न पाकर अपेन दोउ कर मलते हैं ।
कभी परोसा भोजन उनको छोड़ चले जाना पड़ता
आधा भोजन छोड़ कभी मुग़लों से है लड़ना पड़ता ।
सेना नहीं, सहाय नहीं, और मुग़ल शाह से लड़ना है
किन्तु—धन्य परताप ! कि तुमने छोड़ा ज़रा न लड़ना है ।

महलों में रहने वाली महरानी बन बन फिरती हैं
काँटे चुभ चुभ जाते हैं, पर चलते ज़रा न रुकती हैं ।
जिनको महलों की सेजों पर नींद कष्ट से आती थी
जिनसे कभी न चार पैर की मंजिल मारी जाती थी ।
वे सुकुमार महल की ललना, घास फूस पर सोती हैं
दिन दिन भर चलती रहती हैं, थकित ज़रा नहिँ होती हैं ।
यह सब दुख, यह कष्ट कठिन तम, पत्थर पिघलानेवाले
क्यों सहते हैं महराना जी और साथ रहने वाले ?
क्योंकि उन्हें गर्वित मस्तक नहिँ सन्मुख यवन नवाना है
मुग़लों को, न इन्हें जाकर के आधीनता जताना है ।
इस कारण पच्चीस वर्ष तक महराना ने दुःख सहे
पर न कभी मुग़लों के सन्मुख जाकर वैसे वचन कहे ।
'जहाँ सत्य है विजय वहीं है'—यही बात आगे आयी
अगणित दुःखों को सह कर के—मनोवाञ्छा फिर पायी ।
कौन हुआ कवि, जो उनका यश भली भाँति गा सकता है
जितना वह गा चुकता है, उससे बढ़ कर बच रहता है ।
है उद्योग व्यर्थ ही करना, सो उद्योग न करता हूँ:
उनका अतुल वीरता-वर्णन—कैसे मैं कर सकता हूँ ?
कभी न निर्बल अरि से उनने भूल बुरा बर्त्ताव किया
कपट और विश्वासघात का नहिँ सप्ने में नाम लिया ।
सत्य भंग का जीवन में उनके, कुछ भी है नाम नहीं
धर्म-विरुध कोइ काम भूल कर महराना ने किया नहीं ।

टेक निभाकर सुख, धन का, महराना ने बलिदान दिया
कलियुग में केवल उनहीने ऋषियों का सा काम किया।
धब्बा छोटा सा भी उनके विमल चरित में लगा नहीं
स्वार्थ, लोभ का सोता उनके पावन उर में उठा नहीं।

उसी भूमि में,—जिसके हित उनने ये कष्ट उठाये थे
जिसके सब अधिकार उन्होंने सहकर कष्ट बचाये थे।
महराना ने कुटी बीच नश्वर शरीर का त्याग किया
और अमर पुर में जाकर हो अमर,-अमर का धाम लिया।
गौरव, महा वीरता की प्रति मूर्ति जगत से चली गयी
आशा सारे हिन्दूगण की सदा काल के लिये गयी।
आर्य-जाति का सूर्य सदा के लिये जगत से डूब गया
स्वतन्त्रता का उज्ज्वल तारा छोड़ जगह को टूट गया।
उनके जातेही भारत, हिन्दू-समाज रो हाय उठा
बालक, वृद्ध, धनी, निर्धन, सब वीर जनों को शोक हुआ।
किस पाषाणहृदय ने सुनकर आंसू नहीं बहाये हैं
कौन न उनकी जीवनसन्ध्या देख, हाय! अकुलाये हैं?
तब से अब तक, सुख की दुख की कितनी घटना यहाँ घटीं
भाग्यहीन इस भरतखण्ड पर कितनी बातें यहाँ पटीं?
किन्तु आज तक सबके मन में है प्रताप का शोक हरा
जब वह दृश्य याद आता है, आता है तब गला भरा।
उस महात्मा की स्मृति में दो आँसू प्यारे चार बहा;
नहीं घटेगा शोक कभी वह—सबने मिल कर यही कहा।

सब कुछ जग में नश्वर है—सब नष्ट अवशि हो जावेगा
किन्तु महात्मा का गौरव हो अमर जगत रह जावेगा।
सब कुछ होगा. किन्तु कीर्ति भूली न जायगी कभी कहीं
श्री प्रताप महराना की—वह अमर हो चुकी सभी कहीं।

छठा परिच्छेद

वीर पूज्य यशवन्तसिंह ने जब वैकुण्ठ पयान किया
तब ले साथ कुमार अजित को मरुप्रदेश प्रस्थान किया—
सरदारों ने; रस्ते से दिल्ली हो, उनको जाना था
जहाँ शाह औरङ्गज़ेब को अपने को दिखलाना था।
जब वे दिल्ली में पहुँचे, तब सरदारों को बुलवाया
शाहंशाह ने; औ कुमार श्री अजितसिंह को मँगवाया।
उसने कहा कि 'कुँवर अजित को तुम मेरे को दे देवो
मारवाड़ जा, उस प्रदेश के भाग बांट कर, कर लेओ।
यह सुन राठौरों के चेहरे क्रोध वेग से लाल हुए
रक्त-वर्ण सब नेत्र हुए, औ दांत दांत पर चले गये।
बोले— शहंशाह ! तुमको तो अब तक है यह ख़बर नहीं
राजपूत अपनी बातों में झूठे होते कभी नहीं।
महाराज यशवन्तसिंह ने हमको पाला पोषा है
तरह तरह के मान दिये हैं—सभी तरह सन्तोषा है

खाकर उनका अन्न पला है हम लोगों का अधम शरीर
उनके कारण मिले सभी सुख, उन कारण कहलाये वीर।
तब क्या आशा करते हो—हम छोड़ कुँवर को देवेंगे
तुमसे कपटी नीच पुरुष को उनको हम दे देवेंगे ?
कुत्ता तक अपने स्वामी को कृतज्ञता जतलाता है
नर भी नर से उपकृत होकर कृतज्ञता दिखलाता है।
फिर हम जो हैं वीर कहाते—क्यों न उसे दिखलावेंगे ?
विपत काल में कैसे बन कर नीच अलग हो जावेंगे ?
क्या इस ही के लिये हमें, श्री राजा जी ने पाला था ?
हम कुमार को तज देवेंगे क्या यह कभी विचारा था ?
जब तक जीवित इक चत्री है जब तक नस में रक्त बहै
जब तक तन में प्राण हमारे, जब तक कर में खड्ग रहै ;
तब तक कौन साहसी है, जो कुँअर अजित ले जावेगा
जो उनको लेने आवेगा अपना सीस कटावेगा।'
यह कह सब सरदार छोड़ कर सभा, स्वडेरे पर आये
पहिले ललनागण को जाकर जौहर वृत थे करवाये।
इक विश्वासी मुसलमान को कुँअर अजित को सौंप दिया
फिर आती शाहीसेना पर आगे बढ़कर वार किया।
सब राठौर क्रोध के कारण हुए जोश से मतवाले
उनने तीच्ण कृपाण चला कर मुग़ल बहुत से थे घाले।
वीर रत्न ने मुग़ल मार कर बीस, स्वर्ग प्रस्थान किया
दछू ने भी घमासान कर स्वर्गलोक का मार्ग लिया।

चन्द्रभान कर युद्ध विकट अति, निज राजा के पास गया
भट्टी कुल के मुखिया ने भी उसका पद अनुसरण किया।
दो तलवारें दो कर में ले, शब्द सुकवि रण भूमि गया
जहाँ मार कर, घमासान कर, वीरगान कर स्वर्ग गया।
चारण को गाने वाला ही नर केवल तुम मत जानो
केवल कहने वाले नर में उनकी गणना मत मानो।
जैसे कवि वे होते थे, वे जैसे कविता करते थे
वैसे ही वे युद्धभूमि में जाकर अरि से लड़ते थे।
जब वे सुना सुना कर कड़खे रण में जा पिल जाते थे
तब चत्रीगण शत्रु बीच में सिंहों से हिल जाते थे।
चारण कविता करते जैसा कौशल कलम दिखाते थे
वैसे ही कौशल से रण में वे तलवार चलाते थे।
फिर उस घमासान से बचकर दुर्गादास वीर आया
जिसने अजित कुँवर को जाकर अरबलि गिरि में छिपवाया।
यह कृतज्ञता के फल हैं—यह कृतज्ञता जतलाना है
ऐसे करके कार्य वीर को कृतज्ञता बतलाना है।
कृतज्ञता नर को पशुओं से करके अलग दिखाती है
कृतज्ञता नर के महत्त्व को भलीभाँति बतलाती है।
नीच जीव जो उपकारी का उपकृत हाय ! न होता है
तो, यदि नर है, तो नरत्व को उसी समय वह खोता है।
जिसके उर में कृतज्ञता नहिँ लहरें मारा करती है
उसके पाप-भार के कारण हिलती सारी धरती है।

यह कर्त्तव्य सभी नर का है, विन आशा उपकार करें
तो जो स्वयं न उपकारी का जाकर हो ! उपकार करें।
तो उनको मनुष्य कहना ही सत्य जानिये भारी भूल
क्योंकि यही गुण तो मनुष्य के है सारे नरत्व का मूल।
'धन्यवाद' कह देना नहिँ है कृतज्ञता का जतलाना
'मैं हूँ अति कृतज्ञ' कह देना भी नहिँ इसका बतलाना।
कृतज्ञता का अनुभव नर मन ही मन में कर सकता है
उसको दिखलाने को वह अवकाश ताकता रहता है।
पाते ही अवकाश भला वह उपकारी का करता है;
इतने पर भी अन्त नहीं उसकी कृतज्ञता का होता;
कहीं बन्द हो सकता है जब फूट चुका उसका सोता?
वह अपने मन ही मन में सुख उसका अनुभव करता है
इससे वह प्रसन्न रहता है तुष्ट सदा वह रहता है।
कृतज्ञता नर का भूषण है, जिसके बिना देव सा नर
होता है—कपटी, कायर, नर तन के भीतर छिपा असुर।

सप्तम परिच्छेद।

अमरसिंह ने सुना कि उन पर किया गया है जुर्माना
इसका कारण कुछ दिन तक है शाह सभा में नहिँ जाना।
तब उठकर के स्वाभिमान से खड्ग हाथ में ले बोले
'शहंशाह ! क्यों धमकाते हो—क्या हम हैं बालक भोले ?

गया शिकार खेलने था, इससे न सभा में आय सका
नहीं आज तक इससे पहले आने से था कभी रुका।
तिस पर मुझ पर जुर्माना करने का भय दिखलाते हैं
व्यर्थ, बिना अपराध आप यह हमको सज़ा दिलाते हैं।
किन्तु याद यह रखियेगा, सर्वस मेरी है यह तलवार
राजपूत है नहीं जानता जग का और दूसरा कार।'
निधड़क स्वाभिमान में डूबे अमरसिंह के सुन कर बैन
लाल हो गये क्रोध विवश, तब शाहजहाँ के दोनों नैन।
दिया सलावत ख़ाँ बक्शी को हुक्म कि 'जाकर ले आओ
अमरसिंह से जुर्माना कुछ देर न तुम इसमें लाओ।'
अमरसिंह से औ बक्शी से पहिले ही कुछ खटपट थी
सो उसने राजा से जाकर भली बुरी कुछ बात कही।
क्रोधित होकर अमरसिंह ने बक्शी से तब यही कहा
'अभी यहाँ से चल देओ—अब तक मैंने है बहुत सहा।
तुम मेरे घर पर आये हो, इससे चुप हो रहता हूँ
इस कारण ही शीश तुम्हारा, धड़ से अलग न करता हूँ।'
यह सुन कर, डरकर, क्रोधित हो, बक्शी शाह पास आया
और बढ़ाकर, ख़ूब बनाकर, हाल उन्हें सब बतलाया।
इसने उनकी क्रोधानल में आहुति सा जा काम किया
अमरसिंह को ले आने का बल से, उनने हुक्म दिया।

अमरसिंह भी घोड़े पर चढ़, अस्त्र शस्त्र से सज्जित हो
आये वहाँ सिंह क्रोधित से, रोष-मद्य-मतवाले हो।

जो ईसके पंजे में पड़ता, उसका यह कर देता नाश
आगा पीछा नहीं सोचता उसकी कोई रहै न आश ।
शाहजहाँ क्रोधित होकर के, सिंहासन पर बैठा था
उसकी सारी राजसभा में सन्नाटा सा छाया था ।
बक्शी जोड़ हाथ, अमर की उससे चुगली करता था
जिसको सुन सुन शाहजहाँ का दुगना क्रोध भड़कता था ।
अमरसिंह यह दृश्य देखकर, और क्रोध अति में आये
ज्ञानहीन नर के सदृश वे क्रोधित बक्शी पर धाये ।
एक कटार ज़ोर से उसकी छाती में जाकर मारी
जिसके लगते गिरा ज़ोर से चिल्लाया जैसे नारी ।
फिर तो शाहजहाँ के ऊपर उनने फेंकी एक कटार
किन्तु भाग्य ! उसने जाकर के खंभे ही का किया शिकार ।
शाह सलामत, जान सलामत लेकर हरम ओर भागे
अमरसिंह ने रक्त बहाया सभा-भवन में बढ़ आगे ।
जो आया सरदार सामने इकदम उसका सिर काटा
सभा-भवन को सरदारों की लाशों से उनने पाटा ।
पलक मारते सभा-भवन से सब लोगों ने कूच किया
क्रोधित अमरसिंह ने भी फिर अपने घर का मार्ग लिया ।
किन्तु सामने आये देखा फाटक बन्द किया पाया
किन्तु रुके वे ज़रा न औ अपने घोड़े को दौड़ाया ।
उस फाटक को—जिसने नभ से मिलने का अभिमान किया
पलक मारते, आय जोश में, लाँघ उसे जा पार किया ।

छूते पैर धरणि से उनका प्यारा घोड़ा स्वर्ग गया;
और मुग़ल की अनी बड़ी ने आकर उनको घेर लिया ।
गोरा हाड़ा बूंदीवाला उनका इक सम्बन्धी था
जो मुग़लों की राज-सभा में, वहाँ उस समय रहता था ।
धोके से जाकर करके उसने हत्या अमरसिंह की की
और सदा के लिये आपने कुल को यह बदनामी दी ।
किन्तु वीर राठौर अमर ने मरते मरते प्राण लिया
गोरा हाड़ा का, औ सुख से वीर-लोक प्रस्थान किया ।
स्वाभिमान का उदाहरण यह स्वाभिमान इसको कहते
स्वाभिमान के बल से होकर बली काम अद्भुत करते ।
जिसमें है अभिमान नहीं निजता का, जिसे न अपना ज्ञान
उस पशु को 'जीवित मनुष्य' कहने में होती भूल महान ।
या तो वह निर्ल्लज गधे सा होकर जग में जीता है
पेट पालने ही का गुण अवगुण सब जिसने सीखा है ।
या वह ऋषि है, सुर है, मुनि है, परमहंस मतवाला है
जग समुद्र में लवण सदृश जिसने निज को कर डाला है ।
वह निज को है जगत समझता, वा जग निज को है माना
इससे अपने को अपना, अभिमान ठीक नहिँ दिखलाना ।
क्या स्वमित्र को स्वाभिमान का जाकर उचित जताना है
क्या भाई ही को जा करके स्वाभिमान दिखलाना है ?
ये तो 'स्व' हैं 'स्व' को 'स्व' का दिखलाना है उचित नहीं
सूरज को प्रकाश दिखलाना होता प्यारे ! ठीक नहीं ।

स्वाभिमान पर लोगों को, परजन को जा दिखलाना है
'पर' पर 'स्व' का शुभ महत्त्व औ गौरव हमें जताना है।
आज तलक आगरा-प्रदर्शक फाटक पर ले जाते हैं
उसके नभ-चुम्बित कंगूरे उँगली उठा दिखाते हैं ।
अमरसिंह का अमर कृत्य वे जाकर हमें सुनाते हैं
उनकी कथा दुखान्त सुनाकर वे हमको विचलाते हैं ।
अमरसिंह का घोड़ा प्यारा, पत्थर होकर वहाँ खड़ा
मानो स्वामी की आज्ञा पाने को वह है वहाँ अड़ा ।
औ हम सब नर नीच बुद्धि से मानो वह यह कहता है:—
'स्वाभिमान-भूषित नर का पशु, देखो ! क्या कर सकता है' ।

अष्टम परिच्छेद ।

कमरे में सुनसान छया है तिनका नहीं खटकता है
सभी लोग चुप बैठे हैं—सब पर गाम्भीर्य बरसता है ।
राजा जी शय्या पर अपनी, हो रोगी चुपचाप पड़े
रानी, मन्त्री, भृत्यवर्ग सब घेरे हैं चुपचाप खड़े ।
नीरवता को तोड़ वैद्य ने मुड़ मन्त्री की ओर कहा
'राजा जी को युद्ध भूमि में एक घाव है लगा महा ।
विष से बुझी कटार लगी है इससे इतना दुख पाया
राजा जी ने; किन्तु ध्यान में नहिँ उपाय मेरे आया—

इसको छोड़ कि, घाव चूसकर दूषित लोहू देय निकाल—
कोई जन, योंही बच सकता है महराजा जी का काल ।
किन्तु चूसने वाला उसका, उस विष से मर जावेगा
जिससे वह महाराजा जी का जाकर काल बचावेगा ।'
यह सुन दयावान राजा ने धीरे धीरे वचन कहे
'वैद्यराज ! हम स्वयं जानते हम जो हैं दुख भोग रहे ।
क्या अपना दुख और किसी के सिर अच्छा देना है डाल
क्या निज प्राण बचाने जाकर और किसी को देवें घाल ?
प्यारे जैसे प्राण हमें हैं वैसे हैं सारे जग को
तब क्या लेना प्राण दूसरे, उचित काम यह है हमको ?
नहीं कभी मैं कर सकता हूँ ऐसा अनुचित कादर काम
कर सकता हूँ नहीं कलंकित, ऐसा कर मैं अपना नाम ।
हाँ, यदि औषध के प्रयोग से बच सकते हों मेरे प्राण
तो करिये उद्योग, वैद्यजी, और दीजिये मुझको त्राण ।'
पट्टी बाँध, घाव को धोकर, वैद्यराज निज धाम गये
और इधर रानी के मन में प्रकटे बहुत विचार नये ।
रानी कमलावती युद्ध से अभी लौटकर आयी थी
जहाँ शत्रु खिलजी पर उसने विजय बड़ी इक पायी थी ।
पति प्यारे की जान वहाँ पर उसने जाय बचाई थी
शत्रु मित्र से, सबसे उसने कीर्ति बड़ाई पाई थी ।
गर्वित शहंशाह खिलजी को बच्छी जाय चखाई थी
राजपूत रमणी की रण की बाँकी कला दिखाई थी ।

यही नहीं, वह स्वयं धर्म अपने की अच्छी ज्ञाता थी
पति-पद-प्रेम पगी थी वह औ लक्ष्मी सी सुखदाता थी।
सुनकर वैद्यराज की बातें उसने दृढ़ यह किया विचार
पति की जगह प्राण मैं देकर होऊँगी पति पर बलिहार।
रात गयी थी बीत बहुत, राजा सुनींद में सोते थे
आस पास के पहरूगण भी विवश नींद से होते थे।
इतने ही में रानी ने जा, राजा की पट्टी खोली
ज़रा न उसका हृदय कँपा, कोई न शब्द मुँह से बोली।
किन्तु धीरता औ दृढ़ता से घाव चूसने वहाँ लगी
सुख के मारे राजा जी की नींद ज़रा भी नहीं जगी।
इसके कारण थोड़े दिन में रानी ने शरीर छोड़ा
सुन कर यह सब हाल सुखों से राजा ने भी मुँह मोड़ा।
और पतिव्रत नारी का जाकर विकुण्ठ में साथ किया
अपनी प्रिय पत्नी के पथ का जाकर के अनुसरण किया।
इसे प्रेम कवि कहते हैं यह बिरलों में पाया जाता
जहाँ स्वार्थ का बलीदान है सन्मुख प्रेम दिया जाता।
व्यर्थ लोग बिन जाने ही सब प्रेम प्रेम चिल्लाते हैं
किन्तु कभी चिल्लाने वाले नहीं प्रेम को पाते हैं।
प्रेम हृदय का महद्भाव है, बड़े पुण्य से आता है
जो इस नश्वर पाप देह को सुर के पद पहुँचाता है।
जब योगी करके प्रयत्न बहु ईश प्रेम को पाता है
भरा घड़ा सा चुप रहता है नहीं छलकता जाता है।

प्रेम पगे योगीश सभी हैं ऋषी प्रेम से माते हैं
सुरगण इसी प्रेम के कारण अमर, देव कहलाते हैं।
प्रेम नहीं साधारण गुण है बड़े पुण्य से आता है
जो इस नश्वर पाप देह को सुर के पद पहुँचाता है।
व्यर्थ जगत मूढ़त्व विवश हो 'प्रेम' 'प्रेम' चिल्लाता है
नहीं प्रेम का रूप तलक उसके मस्तक में आता है।
शोक यही है, अब के कवि भी प्रेम प्रेम चिल्लाते हैं
किन्तु प्रेम के सत्य अर्थ हा! वे भी नहिँ बतलाते हैं।
उपन्यासकारों ने उसके नाम कलंक लगाया है
व्यर्थ प्रेम का नाम बता कर झूठा काम दिखाया है।
और प्रेम स्वर्गीय वस्तु के नाम कलङ्क लगाता है
यह नर मूढ़, व्यर्थ ही उसको कलुषित उर में लाता है।
पहिले निज उर से तो उसको स्वार्थ डाह हटवाना है
लालच, लोभ, मोह, दुर्गण की जड़ पहिले कटवाना है।
जब पवित्र उत्तम भावों से नर का उर भर जावेगा
तब नैसर्गिक प्रेम शुद्ध उर में आ वास जमावेगा।
तब उस नर का हृदय, दिव्य अमरों का उर हो जावेगा
वह नर, फिर नर नहीं रहेगा, नर-सुर वह हो जावेगा।
अपने प्रिय के कीर्त्तिगान में अपना समय बितावेगा
उसके सारे दोष जगत् को गुरु-गुण बना दिखावेगा।
उसके उर में दया स्रोत होकर अमोघ जम जावेगा
उसके नैनों को सारा जग प्रेम-भरा दिखलावेगा।

एक प्रेम ही सारे जग का होता आया है आधार
जगत प्रेम पर ही स्थिर है ऐसा किया गया निर्धार ।
कोई शेष, ग्रेविटेशन को मही अधार बतलाते हैं
किन्तु प्रेम पर ही जग स्थिर है, ज्ञानी यों सिखलाते हैं ।
प्रेम वृद्ध, बालक सब उर में लहरें मारा करता है
उष्ण रक्त को और उष्ण कर उत्तापित वह करता है ।
प्रेम, जीव के इस शरीर को विरही होय रुलाता है
प्रियतम के मिल जाने पर, वह उसको बहुत हँसाता है ।
इसी प्रेम के मन्त्र-विवश हो वीर युद्ध में लड़ते हैं;
जब पाते आदेश प्रेम का उसके हित तब मरते हैं ।
राजा प्रजा प्रेम के कारण जग को प्यारा होता है
जब वह प्रेम छोड़ देता है—तभी राज वह खोता है ।
भाई, बहिन, पिता, माता ये सभी प्रेम के नाते हैं
तरुणी, पुत्री, पुत्र, सभी ये इसी प्रेम से भाते हैं ।
जब दो मित्रों के प्यारे उर प्रेम-पाश से बँध जाते
तब वे सुर हैं हो जाते—सुख स्वर्गवासियों सा पाते ॥

और किसी की बात कहूँ क्या ? ईश प्रेम से बँध जाता
जो कोइ हृदय लगाता उससे, उसे अङ्क में है पाता ।

कमल सूर्य के प्रेम बँधा है करती कुई चन्द्र की चाह
इन्दु और पत्ती चकोर का, है यह कितना प्रेम अथाह ।
निपट निरङ्कुश रत्नाकर भी इन्दु प्रेम का प्यासा है
जड़, जंगम, चर, अचर, सभी में प्रेम प्रकाश प्रकासा है ।

जो कोई इस सुधासिन्धु का एक घूट पी लेते हैं
वे दुर्गुण को छोड़ पुण्यमय जीवन निज कर लेते हैं ।
सब कवियों की काव्यधरा का एक प्रेम ही है आधार
यदि इक दिन को हटा ईश ले इसे, होय तो हा हाकार ।
कवि कोविद की सारी कृतियाँ मिट्टी में मिल जावेंगी
ईर्षा, स्वार्थ, क्रूरता की सब लीला जग में छावेंगी ।

जग का सब से बड़ा धर्म है—प्रेम, न इसमें कुछ सन्देह
कौन धर्म निभ सकता है जब, है ही नहीं हृदय में नेह ?
किन्तु 'प्रेम' के अर्थ समझ लो, पहिले प्यारे श्रोता वृन्द
भलीभाँति बिन समझे उसके पाओगे नहिं कुछ आनन्द ।
उससे ही यह तत्त्व समझना जो गुरु पूरा ज्ञानी हो
जिसने स्वयं प्रेममय बन कर सृष्टि प्रेममय जानी हो ।
उससे तुम यह तत्त्व समझ कर सब जग को समझाओगे
सारे जग को तुम भी जाकर प्रेम नेम सिखलाओगे ।
निजता, चीनी को जग जल में शर्बत घोल बनाओगे
'मैं वह ही हूँ' "मैं वह ही हूँ" प्रेम मत्त चिल्लाओगे ।

सार यही है—'ईश प्रेम है'—'प्रेम ईश है' जग जाना
बनो प्रेममय अगर चाहते आप ईश में मिल जाना ।

नवम परिच्छेद ।

यों गाते गाते उसकी आंखों से आंसू चार चुए
प्रेमभाव सब उसके उर में फिर से उमड़, प्रगट हुए ।

चारण क्षण भर, सर्द सांस भर, भरलाया वह अपना कण्ठ
प्रेम-सिन्धु में मग्न हुआ औ लगा देखने वह वैकुण्ठ ।
प्रिय पुरुषों के सुखद चित्र उसके उर-पट पर प्रगट हुए
और प्रेम से विह्वल होकर अश्रु आँख से बहुत चुए ।
पर इतना ही नहीं हृदय उसका होने पर भी निर्बल
एक बार फिर लगा धड़कने द्वारा प्रेरित प्रेम प्रबल ।

प्रिय गृहिणी का चित्र, कि जिसने देख मुग़ल का नगर प्रवेश
किया अग्नि में कूद समर्पण प्राण, हृदय में रख देवेश ।
उस ज्वाला की लपक, हृदय में आज तलक धधका करती
जला रही है हृदय, जलाकर राख उसे वह है करती ।
ऐसा उसको भास हुआ मानो कन्या का मुख उज्ज्वल
उसे दीख पड़ता उस स्थल पर, जहां बहै झरना निर्मल ।
साहस द्योतक वही शुभ्रमुख, वही नेत्र जो दुर्दिन भी
विचलित हुए न, सिवा प्रेम के रस जिनमें नहिँ बहा कभी ।
वही ललाट, केश वे काले, वे ही कोमल कर जिनने—
बार एक पकड़ी कटार थी निज सतीत्व रक्षा करने ।
जिसने अपने हाथ रँगे थे बार एक रक्त द्वारा
दुष्ट मुग़ल अत्याचारी को जिसने निज कर से मारा ।

बालकपन के मित्र निष्कपट, जो कि साथही बड़े हुये
आज अकेला उसे छोड़ कर, सभी स्वर्ग को चले गये ।
एकाएक उसे यूँ दीखा, जीवन की नौका जिन पर
भवसागर की कठिन भँवर में सदा रही जिन पर निर्भर

वे सब उसको छोड़, काल के अतल गर्भ में चले गये
और समय की क्रुद्ध लहर में उसे डूबता छोड़ गये ।
कोई नहीं बटानेवाला इस दुख का अब शेष रहा
केवल निकला तृण कि समझ उसने रक्षक था जिसे गहा ।
केवल एक सहचरी वीणा थी उस पर अब शेष रही:
शोक ! बजाने की उसके अब उसमें थी नहिँ शक्ति रही ।
वृद्धावस्था की आँखों में होता कुछ उत्साह नहीं
वृद्धावस्था के अंगों में फुर्त्ती रहती शेष नहीं ।

जो कुछ उसने कहा शक्ति से यद्यपि था उसके बाहर
इसके ही कारण केवल, थक गया साफ़ था यह ज़ाहिर ।
किन्तु प्रेममय स्वजनों का स्मरण हृदय के कोमल तार
नहीं सह सके किसी तरह भी करने पर उद्योग अपार ।
अनायास उसके मुख से यह निकला 'प्रभुवर ! दया करो
प्रेम-शून्य इस जग से मेरा शीघ्रतया उद्धार करो ।
हुआ पुरातन समय स्वप्न, दुख का, दुखहर ! अब शेष नहीं
इस जर्जरित हृदय की कोई मनोकामना रही नहीं ।
मुझे ले चलो वहाँ, जहाँ प्रियतम मेरे, सेवा तेरी-
करते हैं औ जहाँ लगी है लगन सदा उनसे मेरी ।
वहाँ, जहाँ जर्जरित हृदय जाते ही चट जुड़ जाता है
वहाँ, जहाँ आनन्द चिरन्तन केवल रहने पाता है ।
वहाँ, जहाँ ये वीर कि जिनकी कीरति मैंने गायी है—
रहते हैं, जिसके कारण वह दुगनी मुझको भायी है ।

अन्त करो इस दुख का केशव, यही प्रार्थना एक रही
उसकी विनती सुनो कि जिसने एक तुम्हारी टेक गही ।
दयानिधान विनय सुन लेना, ज़रा ध्यान इस पर देना
निज चरणों पर इस सेवक का ले प्रणाम प्यारे ! लेना ।'
इतना कहते कवि के मुख पर ज्योति एक अनुपम छायी
और हाथ की वीणा प्यारी, छुटकर धरती पर आयी ।
और एक दम गगन ओर, इक ज्योति निकल कर चली गयी
नश्वर देह वृद्ध चारण की पृथ्वी पर रह पड़ी गयी ।

दसवाँ परिच्छेद ।

देख दशा यह चारण की रजपूत युवक अति घबड़ाया
किन्तु अन्त में अपने मन में धीरज वह ज्यों त्यों लाया ।
उसने देखा उस सुख दुखमय रजनी का अब रहा न शेष
उसके कोमल सज्जन उर को सत्य हुआ था अतिशय क्लेश ।

कवि वियोग से व्यथित वहाँ के जड़, पशु, पच्छि हुए सारे
लगे दिखाने शोक तरह अपनी से वे सब बेचारे ।
पेड़ ओस की बूँद अश्रुरूपी टप टप टपकाते थे
मानों कवि वियोग से होकर व्यथित सुअश्रु बहाते थे ।
सन सन करती वायु पेड़ से होकर जब वह जाती थी
तब आवाज़ इक रोने की सी धीमी तहँ से आती थी ।

झरना कल कल शोर मचाता, शोक दिखाता जाता था
आस पास की सभी वस्तु को कवि की याद दिलाता था ।
या पर्वत के शोक अश्रु यह झरना शुभ्र बनाते थे
जो तलैटियों में से होकर रोते रोते आते थे ।
ऊँची चट्टानों से जाकर जभी वायु टकराती थी
तभी वहाँ से उत्तर में इक चीख शोक की आती थी ।
जब वह साल ताल आदिक के तरु को खबर सुनाती थी
तब उनकी दुख चीत्कार बन भर में जा गुँज जाती थी ।
हवा विरह से व्याकुल होकर इधर उधर को जाती थी
किन्तु शोक के मारे हा ! वह शान्ति कहीं नहिँ पाती थी ।
कुहरा जो सब ओर गगन-मंडल में ऊपर छाया था
कवि वियोग से प्रकृति दुखी है-खबर यही क्या लाया था ?
फूले सुमन गंध अपनी से सर्द साँझ को भरते थे
कवि कीरति से दशों दिशा को जाकर सुरभित करते थे ।
बाँ बाँ करती गाय नयन से धार अमोघ बहाती थी
अपने गुण गाने वाले का शोक अतीव मनाती थी ।
मृगगण, पशुगण, पक्षीगण, सब रोते थे चिल्लाते थे
कवि वियोग से व्यथित हुए वे सारे जीव दिखाते थे ।
सत्य प्रेम पर एक साथ ही वज्राघात समान हुआ
जग से सच्चे प्रेमप्रदर्शक का मानो प्रस्थान हुआ ।
कौन ईश की भक्ति सुधा का कविता स्रोत बहावेगा ?
कवि के बिना स्वधर्म प्रेम को कौन खोल दिखलावेगा ?

कौन देश के मधुर प्रेम को भर उर में बैठावेगा ?
कौन बिना कवि के स्वजाति का सच्चा प्रेम बतावेगा ?
कौन पिता के गुरु-स्नेह को पुत्रों को समझावेगा ?
कौन जननि का हृदय खोल कर मातृस्नेह दिखावेगा ?
कौन सहोदर भ्राताओं का स्वर्गी प्रेम सुनावेगा ?
कौन परम पवित्र मित्रों का पावन प्रेम बतावेगा ?
कौन पतिव्रत नारी का पति-प्रेम-प्रगाढ़ सुनावेगा ?
कौन बिना पति के अब सच्चा प्रेम-महात्म्य बतावेगा ?
कौन प्रकृत कवि बिना प्रकृति का सब सौंदर्य दिखावेगा ?
कौन पुराने वर वीरों की कीरति जगत में गावेगा ?
कौन उठाकर युग युग बीती बातें हमें सुनावेगा ?
कौन मरे दिल में भी फिर से जोश स्रोत उमड़ावेगा ?
कौन जगत को माँज साफ़ कर सच्चा रूप दिखावेगा ?
कौन जगत की नश्वरता सबके मन में बैठावेगा ?
कौन दुर्ग बन नगर आदि को प्यारे ! अमर बनावेगा ?
कौन स्वकविता ही के बल से नर को देव बनावेगा ?
कवि के जाते ही जग उनको फिर से हाय ! भुलावेगा
उनकी कभी न कोई फिर से मुँह पर कीरति लावेगा।
कवि के मरते ही जग की सब भली वस्तु मर जाती हैं
कविता, विद्या, कीर्ति, वीरता विधवा सी हो जाती हैं।
सरिता, पर्वत, विटप, दुर्ग, बन जिनके गुण कवि गाता है
कवि के मरते ही उन सब को भूल जगत फिर जाता है।

इस कारण सब जीव, जन्तु, जड़ कवि वियोग से व्यथित हुए
अपनी अपनी तरह सबों ने अपने दुख को प्रकट किये।

ग्यारहवाँ परिच्छेद ।

विजयसिंह ने वृद्ध सुकवि का, निज हाथों सत्कार किया
उसका भस्मऽवशेष एक मंजूषे में तब बंद किया।
उसको वहीं कुटी के सन्मुख, खोद भस्म अवशेष रखे
वहाँ एक पत्थर लगवाया, उस पर थे ये शब्द लिखे :—
'पथिक ! खड़ा हो क्षणिक यहाँ पर कर दर्शन निज जन्म सुधार
हुई धन्य यह भूमि, सुकवि का शेष हृदय अपने में धार ।
इस पावन स्थान बीच चारण की भस्म उपस्थित है
मातृभूमि की सुखद गोद में उसका शेष सुरक्षित है।
वह जग को हिन्दू वीरों की पावन कीर्ति सुनाता था
जननी जन्मभूमि यश गाते अपनी आयु बिताता था।
उसकी नस नस में व्यापित था धर्म स्वजाति देश अभिमान
निशि वासर गाया करता था जिनका वह कल कीरति गान।
उसका जीवन चन्दन सा था दिव्य परम पर उपकारी
सज्जन गुण की खानि रहा वह कवि-कुल-मुकुट शोकहारी।
पथिक ! झुका सिर इस समाधि पर थोड़े फूल चढ़ाता जा,
वृद्ध अमर कवि को थोड़ा सा आदर मान दिखाता जा।'

कोई बटोही भूल भटक कर वहाँ पहुँच जब जाता था
उस पवित्र भूभाग बीच वह हर्ष बहुत ही पाता था।
निशि दिन, बारह मास लदे, वृत्तों से फल ला खाता था
कांच समान स्वच्छ शीतल जल पीकर प्यास बुझाता था।
पर्णकुटी में, वा छाया में तरुओं की, वह सोता था
पढ़कर उस समाधि पत्थल को उसे हर्ष अति होता था।
ऐसी जगह पहुँचना ऐसे वह सौभाग्य समझता था
तीर्थोपम उस कवि समाधि पर अपना मस्तक रखता था।
वन फूलों को तोड़ तोड़ वह उस पर उन्हें चढ़ाता था
कविवर की कर याद आंख से आंसू चार बहाता था।
जब वह गाँव लौट कर जाता, स्वजनों में जब जाता था
तब अगियारी पास बैठ वह कवि की कथा सुनाता था।
सारा जन समुदाय गाँव का सुन कर हर्ष मनाता था
कवि समाधि दर्शन को तब वह तीर्थ समझ कर जाता था।

बारहवाँ परिच्छेद ।

तो कविवर ! चिर सुख निद्रा से जननि गोद में पड़े रहो
वा अपनी वीणा झनकारो गुंजित नन्दनऽरण्य करो।
सुरगण को वे गान सुनाओ पृथ्वी पर जो गाते थे
जिनको सुनने को तब सुरगण बहुत बहुत ललचाते थे।

उन वीरों के दर्शन करना गुण जिनके तुम गाते थे
जिनकी जन्मभूमि दर्शन को बार बार तुम जाते थे।
वहाँ न होंगे सुख विलास में डूबे लम्पट युवक निकाम
जिनको देख यहाँ होता था दुख तुमको हे परम सुजान।
गुणग्राहक श्रोता कविता के वहीं वहीं तुम पावोगे
जिनको सुना स्वकविता कविवर ! हर्ष बहुत तुम पावोगे।
जाओ सुख से रहो स्वर्ग में किन्तु भूल मत तुम जाना
"स्वर्गादपि गरीयसी" भारत माँ का गुण गौरव गाना ॥

वही जगह है, वही कुटी है, झरना भी अठलाता है
चारण का पावन समाधिथल पत्थल हमें दिखाता है।
किन्तु सुकवि अब नहीं वहाँ है, उसको वहाँ न पावेंगे
मृगगण सुनने वीणा आकर हो निराश फिर जावेंगे।
अब वह सुधा सलिल सी कविता जगत न सुनने पावेगा
अब जग में हम हिन्दूगण का कोई गान न गावेगा।
कल कल कर झरना बहता है यह पुकारता जाता है
समय बली से कोई भी जड़ जीव न बचने पाता है।
तो 'श्रीवर' विश्राम न कर क्यों, क्यों निज हृदय दुखाता है ?
रख विश्वास, अन्त में प्रभु दुख का भी हर्ष बनाता है।

॥ इति ॥